शोध मंथन Vol. XIV No.II Apr.-June 2023 ISSN: (P) 0976-5255 (e) 2454-339X
Impact Factor 8.870 (SJIF)

भारतीय ज्ञान परम्परा का मुख्य आधार वैदिक शिक्षा– वर्तमान समय की आवश्यकता

प्राप्तिः 26.05.2023
स्वीकृतः 20.06.2023

24

डॉ० हरीश कुमार
ऐसोसिएट प्रोफेसर, इतिहास
डिपार्टमेण्ट ऑफ लिबरल आर्ट्स एण्ड ह्यूमैनिटीज
फैकल्टी ऑफ आर्ट्स एण्ड सोशल साइंस
स्वामी विवेकानन्द सुभारती विश्वविद्यालय
ईमेलः *kumarh009@gmail.com*

सारांश

विश्व के किसी भी समाज के लिए शिक्षा को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्वीकार किया जाता है क्योकि शिक्षा मनुष्य के सर्वांगीण विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। भारतीय ज्ञान परम्परा के अन्तगर्त प्राचीन काल से ही शिक्षा को व्यक्ति के सर्वांगीण विकास का मुख्य आधार माना गया है क्योंकि प्राचीन शिक्षा पद्धति का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति को समाज के लिए उपयोगी बनाने के साथ–साथ उसका लौकिक, आत्मिक और अध्यात्मिक विकास करना था। प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में यद्यपि ज्ञान प्राप्ति विषयक विस्तृत जानकारी भले ही न मिलती हो, किन्तु उत्तरवर्ती वैदिक साहित्य में, आचार्य, शिष्य, अन्तेवासिन एवं आश्रम आदि अनेक शब्दों को ढूंढा जा सकता है, जो गुरुकुल–शिक्षा और उसके मन्तव्य को स्पष्ट करने व इसका ऐतिहासिक अध्ययन करने में सहायक सिद्ध होते हैं। वैदिक शिक्षा के अभिन्न अंग इन गुरुकुलों में शिष्य नगरीय कोलाहल से दूर शान्त सुरम्य तथा प्राकृतिक परिवेश में माता–पिता से अलग गुरु के सानिध्य और संरक्षण में पूर्ण ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए शिक्षा प्राप्त करते थे जो वैदिक शिक्षा और संस्कारों के समुचित समन्वय का ही परिणाम था। वर्तमान में भी इसी प्रकार की शिक्षा प्रणाली की आवश्यकता है ताकि शिक्षा के माध्यम से विधार्थी का सर्वांगीण विकास हो सके और विधार्थी शिक्षित होने के साथ–साथ संस्कारवान बने।

मुख्य बिन्दु

शिक्षा, गुरूकुल, गुरू शिष्य परम्परा, उपनयन संस्कार, वेदांग, वैदिक काल, उत्तर वैदिक काल, धर्मशास्त्र, ब्रह्मचारी, वेद, ज्ञान।

शिक्षा को मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण स्वीकार किया जाता है। हमारे देश में प्राचीन काल से ही शिक्षा के महत्व पर बल दिया गया है। प्राचीन काल से शिक्षा को ज्ञान का स्रोत एवं बुद्धि विकास का माध्यम माना जाता है। भारतीय ज्ञान परम्परा के अन्तर्गत प्राचीन काल से ही शिक्षा को व्यक्ति के सर्वांगीण विकास का मुख्य आधार माना गया है क्योंकि प्राचीन शिक्षा पद्धति का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति को समाज के लिए उपयोगी बनाने के साथ–साथ उसका लौकिक, आत्मिक और अध्यात्मिक विकास करना था। यह ऐसी प्रक्रिया थी जो गुरू के आश्रय में बैठकर ही पूर्ण होती थी। ''अस्तो

मा सद्गमय और तमसो मा ज्योर्तिगमय'' प्राचीन कालीन शिक्षा पद्धति का मूल मंत्र था, जिसके माध्यम से एक स्वच्छ और कल्याणकारी समाज के निर्माण की परिकल्पना की गई थी। वस्तुतः यदि हम इसके मंतव्यों पर विचार करे तो यह हमें समग्र विकास का मूल आधार चारों पुरूशार्थों–धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति का भी मार्ग दिखाती है। वैदिक शिक्षा का उद्देश्य विधार्थी को प्रारम्भ से ही कठोर अनुशासन में रहना और गुरू की आज्ञा का पालन करना था।

यदि हम भारतीय परिवेश को देखे तो प्राचीन काल से ही शिक्षा का व्यक्ति के जीवन को संतुलित और श्रेष्ठ बनाने तथा नयी दिशा प्रदान करने में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। सामाजिक बुराईयों को उसकी जड़ों से निर्मूल करने और त्रुटिपूर्ण जीवन में सुधार करने के लिए शिक्षा की नितान्त आवश्यकता थी[1] और आज भी है। यह एक ऐसी व्यवस्था थी जिसके द्वारा सम्पूर्ण जीवन की धारा को ही मोड़ा जा सकता था। यह एक ऐसी प्रक्रिया थी, जिसके माध्यम से व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व का विकास करने, वास्तविक ज्ञान को प्राप्त करने और अपनी समस्याओं को दूर करने के लिए शिक्षा पर निर्भर होना पड़ता था।

जीवन की वास्तविकता को समझने में शिक्षा का उल्लेखनीय योगदान रहा है। भारतीय मनीषियों ने इस ओर अपना ध्यान केन्द्रित करके ही शिक्षा को समाज की आधारशिला के रूप में स्वीकार किया।[2] विद्या का स्थान किसी भी भौतिक वस्तु से बहुत ऊँचा बताया गया। यह माना गया कि शिक्षा ही मनुष्य को व्यावहारिक कर्त्तव्यों का पाठ पढ़ाने और सफल नागरिक बनाने में सक्षम है।[3] इसके माध्यम से व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक अर्थात् सर्वांगीण विकास सम्भव है। शिक्षा ने ही प्राचीन संस्कृति को संरक्षण दिया और इसके प्रसार में मदद की।

प्राचीन काल से लेकर वर्तमान समय तक विद्या का आरम्भ उपनयन संस्कार द्वारा होता आ रहा है। उपनयन संस्कार के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए मनुस्मृति में उल्लेख मिलता है कि गर्भाधान संस्कार द्वारा तो व्यक्ति का शरीर उत्पन्न होता है पर उपनयन संस्कार द्वारा उसका आध्यात्मिक जन्म होता है।[4] प्राचीन काल में बच्चों को शिक्षा प्राप्त करने के लिए आचार्य के पास भेजा जाता था।[5] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जो विधार्थी ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करता है वह लम्बी अवधि की यज्ञावधि से जुड़ता है। छान्दोग्यापनिशद् में उल्लेख मिलता है कि आरूणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को ब्रह्मचारी रूप में वेदाध्ययन के लिए गुरू के पास जाने को प्रेरित किया था। आचार्य के पास रहते हुए ब्रह्मचारी को तप और साध ना का जीवन बिताते हुए विद्याध्ययन में तल्लीन रहना पड़ता था। इस अवस्था में बालक जो ज्ञानार्जन करता था उसका लाभ उसको जीवन भर मिलता था।[6] गुरू गृह में निवास करते हुए विद्यार्थी समाज के निकट सम्पर्क में आता था। गुरू के लिए समिधा, जल का लाना तथा गृह–कार्य करना उसका कर्त्तव्य माना जाता था। गृहस्थ धर्म की शिक्षा के साथ–साथ वह श्रम और सेवा का पाठ भी पढ़ता था। शिक्षा केवल सैद्धान्तिक और पुस्तकीय न होकर जीवन की वास्तविकताओं के निकट होती थी।[7] इन्हीं समस्त कारणों से ज्ञान को मनुष्य का तीसरा नेत्र बताया गया है जो मनुष्य को अन्तदृष्टि प्रदान करने के साथ–साथ प्रत्येक कार्य को उचित एवं अनुचित रूप में करने की क्षमता प्रदान करता है। ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए व्यक्ति ज्ञान द्वारा समस्त दैवी गुणों को प्राप्त कर लेता है।[8] बृहदारण्यक उपनिशद् में उल्लेख मिलता है कि तीन लोकों मनुष्य लोक, पितृलोक और देवलोक में देवलोक ही सर्वश्रेष्ठ है, जिसकी प्राप्ति विद्या द्वारा ही सम्भव है।[9]

उपनयन संस्कार से एक दिन पूर्व गणेश, मेधा, लक्ष्मी, धृति, श्रद्धा सरस्वती आदि देवी देवताओं का विधिवत पूजन सम्पन्न होता था और इससे पहले रात्रि में बालक मौन व्रती हो जाता था। प्रातः काल के समय बालक को अपनी माँ के साथ एक ही थाली में भोजन कराया जाता। संभवतः यह माँ के साथ उसका अन्तिम भोज होता था और यह प्रक्रिया उसे नवीन संयमित और अनुशासित जीवन का पाठ पढ़ाती थी, क्योंकि आगे का ब्रह्मचारी–जीवन उसे गुरु के निर्देशानुसार माता से अलग रहकर व्यतीत करना होता था।[10] जो गुरु शिष्य परम्परा को पुष्ट करती थी। इस अवसर पर शारीरिक शुद्धि के साथ ब्रह्मचारी को कौपीन वस्त्र (लंगोटी) पहनाई जाती तथा उसकी कटि में तीन डोरियों की मेखला बांध दी जाती थी, ऐसी भावना थी कि ऋषियों की भगिनी के रूप में, वह ब्रह्मचारी की रक्षा कर, उसे बल एवं शीलवान बनायेगी।[11]

प्राचीन शिक्षा–प्रणाली में समन्वित गुरु–शिष्य परंपरा की अवधारणा को उपनिशद वाक्य–"सा विद्या या विमुक्तये" के माध्यम से सहजता से समझा जा सकता है। जो गुरुकुल–शिक्षा–प्रणाली के उद्देश्य का प्रकटीकरण है। जिसका भाव यह है, कि ज्ञान वह है, जो मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर कर सके। इसी संदर्भ में संस्कृत के उस अनाम लेखक की उस जनप्रिय उक्ति को संदर्भित करना भी समाचीन होगा – ''विद्या ददाति विनयम्, विनयात याित्र पात्रताम्, पात्रत्वात धनमाप्नोति, धनात धर्मैः ततः सुखम्'' प्राचीन कालीन गुरु–शिष्य परम्परा पर यदि हम दृष्टिपात करें तो छान्दोग्य उपनिशद में वर्णित नारद और सनत्कुमार का प्रसंग इसका सुन्दर उद्धरण हो सकता है, जब नारद बड़े विनीत भाव से सनत्कुमार के पास ज्ञान प्राप्ति की याचना करने पहुँचे।

प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में यद्यपि ज्ञान प्राप्ति विशयक विस्तृत जानकारी भले ही न मिलती हो, किन्तु उत्तरवर्ती वैदिक साहित्य में, आचार्य, शिष्य, अन्तेवासिन एवं आश्रम आदि अनेक शब्दों को ढूंढा जा सकता है, जो गुरुकुल–शिक्षा और उसके मन्तव्य को स्पष्ट करने व इसका ऐतिहासिक अध्ययन करने में सहायक सिद्ध होते हैं। भारतीय सभ्यता ओर संस्कृति के गर्भ में जिस संस्कारयुक्त प्राचीन शिक्षा पद्धति का विकास हुआ, उसे वैदिक–शिक्षा के नाम से जाना गया और इस शिक्षा के महान केन्द्रों को 'गुरुकुल' की संज्ञा दी गई। इसी शिक्षा के माध्यम से धर्म को मनुष्य में संस्कार रूप में प्रतिष्ठित करने वाली शिक्षा पद्धति को गुरुकुल शिक्षा प्रणाली कहा गया है।[12]

गुरुकुल शिक्षा का उद्भव तथा स्वरूप के विषय में कई मान्यताएँ हैं। इस महत्वपूर्ण शिक्षा पद्धति के आर्विभाव विषयक एक यह भी मान्यता है कि सर्वप्रथम चारों वेदों का ज्ञान स्वयं ईश्वर ने अलग–अलग चारों ऋषियों को प्रदान किया। ऋग्वेद के ज्ञाता ऋषि अग्नि, यजुर्वेद के आदित्य, सामवेद के वायु तथा अथर्ववेद के महाज्ञाता अंगिरा ऋषि थे। ऋग्वेद–आदि वेद माना गया जिसमें पद्य में परमात्मा आत्मा, कर्म–पुनर्जन्म, जीव, सृष्टि आश्रम आदि वर्ण्य विशयों के साथ–साथ विद्याध्ययन के विषय में भी प्रचुर ज्ञान प्राप्त होता है।[13]

प्राचीन शिक्षा व्यवस्था के उद्भव पर यजुर्वेद से भी व्यापक प्रकाश पड़ता है। इसकी रचना पद्य तथा गद्य में है, इसमें सोलह संस्कारों, शिक्षा, आहार, समाज, ज्योतिश, गणित, संगीत आदि महत्वपूर्ण विषयों का वर्णन मिलता है।[14]

प्राचीन काल से ही मनीषियों का दृढ़ विश्वास रहा है कि शिक्षा के द्वारा अर्जित एवं विकसित

बुद्धि ही मनुष्य का वास्तविक बल होता है। जिसको प्राप्त करने को गुरुकुल शिक्षा प्रणाली में 'तप' और 'यज्ञ' प्रमुख साधन बताए गए। विद्या को सबसे प्रधान धन मानते हुए बताया गया कि 'विद्या' (ज्ञान) व्यक्ति की माता के समान रक्षा करती है तथा पिता की तरह उसे कल्याणकारी मार्ग की ओर प्रेरित करती है।

धर्मशास्त्रों में गुरुकुल शिक्षा के महत्वपूर्ण उपादान उपनयन संस्कार के लिए ब्रह्मचारी की आयु के विषय में भी उल्लेख प्राप्त होता है तथा द्विज वर्ग के तीनों वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य विद्यार्थियों के लिए अलग–अलग आयु, ब्राह्मण के लिए आठ, क्षत्रिय के लिए ग्यारह, वैश्य के लिए 12 वर्ष निर्धारित की गई थी।[15] आयु निर्धारण के विषय में बोधायन का मत है कि उपनयन संस्कार 8 से 16 वर्ष के मध्य सम्पन्न हो जाना चाहिए। विभिन्न शास्त्रकारों के निजी मतों से आयु निर्धारण सम्बन्धी प्रश्न विवादग्रस्त हो सकता है, किन्तु इस सम्बन्ध में यह तथ्य महत्वपूर्ण था कि 16 वर्ष के बाद वैदिक–शिक्षा प्राप्त करने की मान्यता नहीं थी क्योंकि सामान्य रूप में संस्कारों के साथ–साथ आश्रम–व्यवस्था का पालन भी करना होता था[16] और प्रथम आश्रम, ब्रह्मचर्य की अवधि 25 वर्ष निर्धारित की गई थी। एक वेद का अध्ययन करने वाले को लगभग 12 वर्ष का समय व्यतीत करना होता था। इसलिए गृहस्थ आश्रम में प्रवेश से पूर्व उसे वेदाध्ययन पूरा करने के शास्त्र सम्मत निर्देश थे। साथ ही तीनों वर्णों में जो अलग–अलग आयु निर्धारित की गई थी उसमें इन वर्णों की पारिवारिक परम्पराओं को ध्यान में रखा गया था, वर्ण–व्यवस्था या जाति–भेद की अवधारणा से इसका कोई सम्बन्ध नहीं था। फिर भी कुछ परिस्थितियों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के लिए अधिकतम आयु सीमा 16, 22 और 24 वर्ष थी। भिन्न–भिन्न वर्णों का पाठ्यक्रम तथा उद्देश्य भी इस भिन्नता का कारण हो सकता है।[17] इनकी अवहेलना करने वाले धर्मच्युत तथा अपवित्र समझे जाते थे। उपनयन अनिवार्य संस्कार था जिससे शिक्षा की अनिवार्यता स्वतः सिद्ध होती है।

इसके पीछे यह भी कारण था कि शिक्षा का प्रारंभिक चरण परिवार से ही प्रारंभ होता था और ब्राह्मण बालक सामान्यतः परिवार में रहकर ही विद्यारम्भ करते थे, जबकि शेष दोनों वर्णों क्षत्रिय और वैश्य छात्रों को परिवार छोड़कर जाना पड़ता था। ऐसी परिस्थितियों में इन छात्रों का उपनयन उस समय होता था जब वह अपने परिवार तथा माता–पिता के अलग रहने के योग्य हो जाते थे। उपनयन संस्कार के महत्व को प्रतिपादित करते हुए मनु ने कहा है कि इसके द्वारा इस लोक तथा परलोक दोनों जीवन पवित्र हो जाते हैं। किंतु इसमें कोई संशय नहीं है कि इसका प्रमुख उद्देश्य शैक्षिक जीवन की पूर्णता से था। याज्ञवल्क्य का मानना है कि, ''उपनयन का परमध्येय वेदाध्ययन है तथा आचार्य को दीक्षित शिष्य को ही वेद और आचार की शिक्षा ग्रहण करानी चाहिए।'' इस संस्कार के लिए आयु के समान ही तीनों वर्णों के लिए अलग–अलग ऋतुओं का भी विधान किया गया था। ब्राह्मण बालक का बसन्त, क्षत्रिय का ग्रीष्म तथा वैश्य का पतझड़ के समय उपनयन संस्कार होना चाहिए।[18]

गुरुकुल में निवास करते हुए ब्रह्मचारी तप और साधना से परिपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए निरंतर विद्याध्ययन में संलग्न रहते। यहाँ रहकर जिन विद्याओं की शिक्षा ब्रह्मचारी प्राप्त करते थे, इसका उल्लेख छान्दोग्य उपनिशद में महर्षि सनत्कुमार तथा देवर्शि नारद के संवाद में प्राप्त होता है। सनत्कुमार के प्रश्न करने पर नारद ने उन विद्याओं का बड़े विनीत भाव से विवरण दिया, जिनका अध्ययन उन्होंने किया था। इनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, व्याकरण पितृविद्या, राशिविद्या

(गणित) देव विद्या, नीतिशास्त्र, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र–ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, नक्षत्र विद्या, सर्प तथा देवजन विद्या (नष्त्य–संगीत) आदि सम्मिलित थी।

स्पश्ट है कि इन गुरुकुलों में निवास करने वाले विद्यार्थी वेदशास्त्रों के अतिरिक्त गणित, ज्योतिश, तर्क, व्याकरण, युद्ध विद्या और चिकित्साशास्त्र का भी पूर्ण मनोयोग से अध्ययन करते थे। भूतविद्या–पंचमहाभूतों के विज्ञान से सम्बन्धित थी।[19] उधर उत्तर वैदिक काल तक छह वेदांगों शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द–ज्योतिश तथा चतुर्उपवेदों का भी शनैः–शनैः विकास हो चुका था जो गुरुकुल शिक्षा पद्धति का महत्वपूर्ण अंग थे।

उपर्युक्त विद्याओं के अतिरिक्त वैदिक साहित्य (उपनिशदों) में एक अन्य विशिष्ट विद्या का उल्लेख भी मिलता है। जिसे परा–विद्या कहा गया है। परा–विद्या के सतत् अध्ययन से ही उपनिशदों में वर्णित ब्रह्म की प्राप्ति संभव थी।[20] यह आत्मा का परमात्मा से साक्षात्कार कराने वाली मानी गई जबकि आत्मा को परमात्मा से पृथक रखने के कारण अन्य विद्याओं को अविद्या की संज्ञा दी गई।

कठोपनिशद में वेदान्तों के ज्ञान को भी अपरा विद्या (अविद्या) कहा गया।[21] किंतु सभी विषयों का अध्ययन वैदिक छात्रों के लिए संभव न था। इसलिए कोई भी छात्र एक वेद तथा उससे सम्बन्धित साहित्य तक ही अपना विशिष्ट अध्ययन सीमित रख सकता था। तीनों वेदों के ज्ञाता को ब्राह्मण साहित्य में 'श्रोत्रिय'[22] की संज्ञा से विभूशित किया गया है जो कालान्तर में 'त्रिवेदी' कहे गए।

उत्तर वैदिक काल में वेदत्रयी के ज्ञान को उत्कृष्टता प्रदान की गई थी किंतु साथ ही विशिष्ट अध्ययन की पद्धति भी पूर्ण रूप में विकसित हो चुकी थी। परिणामस्वरूप छात्रों के ज्ञानोपार्जन को विभिन्न विद्यालयों का प्रचलन भी हुआ। परंतु पुस्तकीय ज्ञान को जिव्हा–भार की संज्ञा देकर उसकी उपेक्षा की जाती थी। जबकि श्रवण मनन तथा निदिध्यासन द्वारा अर्जित ज्ञान को उत्कृष्टता प्रदान की गई।[23]

वैदिक काल में शिक्षण संस्थानों के रूप में विभिन्न गुरुकुलों का उल्लेख प्राप्त होता है। जिन गुरुकुलों में भाषा और साहित्य की उच्च शिक्षा प्रदान की जाती थी उन्हें 'टोल' तथा जहां भाषा साहित्य धर्म दर्शन और नीतिशास्त्र का विशिष्ट रूप से ज्ञान मिलता था उनको ''घटिका'' कहते थे तथा जिनमें वेद की किसी एक शाखा का अध्ययन कराया जाता था उसे ''चरण'' और जिनमें चारों शास्त्रों (दर्शन, पुराण, व्याकरण और राजशास्त्र) का शिक्षण होता उनको ''चतुत्पथी'' कहा जाता था। गुरुकुलों की सम्पूर्ण व्यवस्था गुरु की देखरेख में चलती थी। छात्र आचार्य कुल के अभिन्न अंग होते थे। सामाजिक दायित्व की उच्च शिक्षा उन्हें गुरु के आश्रम में ही मिलती। सामाजिक और व्यवहारिक ज्ञान की पृष्ठभूमि पर ही वे ज्ञान की उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने के योग्य बनते थे। भौतिक जीवन की समृद्धि का महत्वपूर्ण आध ाार गौ–सेवा तथा भूमि उनकी शारीरिक सम्पन्नता का महत्वपूर्ण साधन था। इन गुरुकुलों की दिनचर्या बड़ी नियमित तथा कठोर अनुशासन से परिपूर्ण थी।

गुरुकुल शिक्षा श्रवण, मनन, निदिध्यासन विधि से होती थी। 'वृहदारण्यक' में इस आध्यात्मिक शिक्षा के तीनों चरणों में विशद व्याख्या मिलती है। श्रवण के द्वारा गुरु वचनों को श्रद्धापूर्वक सुनना, मनन के द्वारा वचन का बौद्धिक विष्लेशण तथा निदिध्यासन द्वारा विचार किए गए अर्थ की अनुभूति शिष्य करता था। उपर्युक्त के अतिरिक्त उपनिशद साहित्य में सर्वप्रथम प्रश्नोत्तर प्रणाली का भी प्रारम्भ दृष्टिगोचर होता है जो 'तत्वमसि' महाकाव्य के गूढ़तम आध्यात्मिक तत्वों का स्पष्टीकरण करने में सफल रही। इस प्रणाली

में मौखिक शिक्षा के समस्त उपादेय तथा उपादानों, दृष्टान्त, कथा, कहानी, जीवन–वृत्त आदि का भी आवश्यकतानुसार प्रयोग किया जाता था।[24]

अन्त में आचार्य ब्रह्मचारी के निमित्त वर्षों के संचित प्रेम से अभिशिक्त हृदय ग्राही समावर्तन (दीक्षान्त) का उपदेश देते थे। उपदेश के एक–एक वाक्य में श्रद्धा–विश्वास प्रेमभक्ति, ज्ञान वैराग्य तथा ऐहिक और पारलौकिक कल्याण की वर्षा होती थी। आचार्य शिष्य को सदा सत्य बोलने, कर्त्तव्य पालन, सदैव अध्ययनरत रहना, गुरु की इच्छानुसार उसे दक्षिणा प्रदान करना, गृहस्थ धर्म के कर्त्तव्य का पालन करना, धर्म कर्म से विमुख न होना, अग्निहोत्र और यज्ञ करते रहना, इसके अतिरिक्त माता–पिता, गुरु तथा अतिथि को अपना देवता मानना, आदि का उपदेश देते थे।

निन्दनीय कर्मों से दूर रहना, लज्जा से दान, दान में विवेक का प्रयोग करना। यह सिद्धान्त वेदाज्ञा कहे गए। इसका तात्पर्य केवल धार्मिक कर्त्तव्यों का बोध कराना ही नहीं अपितु छात्रों को सच्चे कर्त्तव्यपराण नागरिक बनने के लिए प्रेरित करना था ताकि स्वस्थ तथा समृद्ध समाज का निर्माण संभव हो। वास्तव में शिक्षा का अधिकार उसी को प्राप्त था जो शिक्षा प्राप्ति के उपरान्त अवसर आने पर उसका उन्मुक्त हृदय से दान भी कर सके, क्योंकि या 'विमुक्तये सा विद्या' के अनुसार यह 'मोक्ष' का परम साधन मानी गई। उपर्युक्त दीक्षान्त भाषण आधुनिक दीक्षान्त भाषणों के समस्त उपयोगी तत्वों से तो परिपूर्ण रहे ही, साथ ही इनमें गुरु–शिष्य के आत्मिक प्रेम की जो पवित्र ज्योति परिलक्षित होती है, वह भारतीय संस्कृति की अक्षय निधि है।

इस प्रकार गुरुकुल शिक्षा के यह प्रमुख केन्द्र 'भीड़भाड़–रहित' क्षेत्रों में शान्त सुरम्य तथा प्राकृतिक परिवेश में संचालित होते थे। शिष्य अपने परिवार तथा माता–पिता से अलग गुरु के संरक्षण में पूर्ण ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए शिक्षा प्राप्त करते थे। छात्रों के व्यावहारिक ज्ञान की वृद्धि पर जोर दिया जाता था। गुरुकुल शिक्षा पद्धति में वर्तमान की तरह शिक्षा का व्यावसायीकरण नहीं था। जबकि वर्तमान आवासीय महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय गुरुकुल आश्रम पद्धति का ही विकसित स्वरूप माने जा सकते हैं किन्तु दोनों में मूलभूत भेद यह है कि गुरुकुल से निकला स्नातक स्वयं को समाज सेवा का उपादान मानता था जबकि आज परिसर छोड़ने से पूर्व ही छात्र ऐश्वर्य, विलासिता तथा अर्थ को जीवन का पहला उद्देश्य बना रहा है। जबकि गुरुकुल शिक्षा में शिक्षापार्जन को कोई शुल्क निर्धारित नहीं था। बल्कि इन शिक्षा केन्द्रों के संचालन के लिए उनके अपने–अपने आय के पर्याप्त स्रोत थे। शिक्षा पूर्ण होने पर शिश्य अपनी सामर्थ्य के अनुसार गुरु दक्षिणा अर्पित करता था। गुरु शिश्य के मध्य पिता–पुत्र सा सम्बन्ध था। यह गुरुकुल वाह्य नियंत्रण से भी पूरी तरह मुक्त थे। जिनका मुख्य उद्देश्य विद्यार्थियों में कठोर अनुशासन के माध्यम से चारित्रिक तथा नैतिक गुणों का विकास करना था।

शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति में वेदों में मेधा एवं ज्ञान के महत्व पर विस्तष्त वर्णन प्राप्त होता है। अथर्ववेद में धारणावती बुद्धि को मेधा कहते हैं अर्थात् जो शिक्षण–ज्ञान को धारण कर स्थिर रखती है। वैदिक ऋषि इसकी उपासना करते थे।[25] मेधा सुखों को देने वाली है।[26] देवगण मेधा–बुद्धि प्रदान करें।[27] मेधा मानवीय गुणों में सर्वप्रथम है। यह सूर्य किरणों के समान समस्त विद्याओं की प्रकाशक है।[28] यह विद्वानों से सेवित एवं ऋषियों से प्रशंसित है। ब्रह्मचारी विद्यार्थी ज्ञानार्जन हेतु इसका

पान करते हैं।[29] मेधा कल्याणकारी है। ऋषि, शिल्पी, बलवान और विद्वान् इसका महत्व जानते हैं।[30] भूतकृत् ऋशियों ने मेधा का महत्व समझा था।[31] भूतकृत् का अर्थ है– संसारी एवं सांसारिक वस्तुओं का निर्माण करने वाले। ऋषि और आचार्य विद्यार्थी को मेधा–बुद्धि देकर उसे सुशिक्षित बनाते थे, मानवीय गुणों का संचार करके उसे सच्चा मानव बनाते थे अतः उन्हें भूतकृत् कहा गया है। प्रातः एवं सायं सूर्य की तरफ मुख करके उपासना के द्वारा सूर्य की किरणों के साथ ही मेधा बुद्धि का अपने अन्दर समावेश किया जाता है।[32] मेधा बुद्धि को प्राप्त करने पर मनुष्य सभी विद्याओं का ज्ञाता एवं सूर्य के समान तेजस्वी हो जाता है।[33]

वेदों में ज्ञान और बल को ब्रह्म कहा गया है तथा उससे जीवन में पवित्रता आती है।[34] अतः ब्रह्मचर्य का अर्थ हुआ– ऐसा विद्यार्थी या शिष्य जो ज्ञान एवं बल का जिज्ञासु है, ज्ञान एवं बल में विचरण करने वाला है, ज्ञान एवं बल का संचय करने वाला है। ब्रह्मचर्य आश्रम की अवधि जीवन में 1–25 वर्ष की है। अतः 1–25 वर्ष तक विद्यार्थी को शरीर में बल और बुद्धि द्वारा मस्तिष्क में ज्ञान का संचय करना चाहिए। संयम द्वारा शारीरिक बल एकत्र करने से आजीवन शरीर में रोग नहीं लगेगें तथा ज्ञानार्जन से उत्तम वृत्ति मिलेगी, धन समृद्धि की वृद्धि होगी अतः वह दुःखी नहीं होगा। ब्रह्म अर्थात् ज्ञान से पृथ्वीवासी समृद्धशाली होते हैं।[35] ज्ञान और योग्यता का कोई विकल्प नहीं है वह अघर्शणीय है, उससे जीवन में धन–समृद्धि की वृद्धि होती है।

ज्ञान का देवता बष्हस्पति जगत की आत्मा है।[36] ज्ञान से देवों का सामीप्य रहता है।[37] ज्ञान को अर्जित न करने वाले, ज्ञान से द्वेश करने वाले के लिए पृथ्वी और जल सभी कुछ दुःखदायी होता है।[38] अर्थात् जो जीवन में ज्ञानवान्, शिक्षा सम्पन्न नहीं हैं वह संसार में सदा दुःखी रहता है। अतः स्पष्ट है कि वर्तमान ब्रह्मचारी और विद्यार्थी अपने कर्तव्य का पालन नहीं कर रहा है उक्त वैदिक रीति से ज्ञानार्जन नहीं कर रहा है इसीलिए वह पढ़ा, लिखा तो है लेकिन शिक्षित नहीं है, सुखी नहीं है।

वास्तव में, वैदिक काल में शिक्षा का अधिकार उसी को प्राप्त था, जो शिक्षा प्राप्ति के उपरान्त अवसर आने पर उसका उन्मुक्त हृदय से दान कर सके। क्योंकि वह मोक्ष का परम साधन मानी गई। यह दीक्षान्त भाषण आधुनिक दीक्षान्त भाषणों के समस्त उपयोगी तत्वों से तो परिपूर्ण थे ही, साथ–साथ इनमें गुरु शिष्य के आत्मिक प्रेम की जो पवित्र ज्योति परिलक्षित होती है वह भारतीय संस्कृति की अक्षय निधि है जिसने ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' का उच्च आदर्श समस्त विश्व के समक्ष रखा।

वैदिक शिक्षा के अभिन्न अंग इन गुरुकुलों में शिष्य नगरीय कोलाहल से दूर शान्त सुरम्य तथा प्राकृतिक परिवेश में माता–पिता से अलग गुरु के सानिध्य और संरक्षण में पूर्ण ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए शिक्षा प्राप्त करते थे जो वैदिक शिक्षा और संस्कारों के समुचित समन्वय का ही परिणाम था। इसमें समाहित नैतिक मूल्य, त्याग और तपोनिष्ठा देश की युवा पीढ़ी को सर्वांगीण विकास की ओर अन्मुख करने में सक्षम है। आज के शिश्य के ऊपर ही कल का लोक–हित एवं राश्ट्र–उद्धार का उत्तरदायित्व होता है। आज का शिष्य इन गुणों एवं कर्त्तव्यों से कोसों दूर हैं इसीलिए उसके पास डिग्री तो है योग्यता नहीं। वह राष्ट्र पर बोझ स्वरूप है। इस दृष्टि के पीछे हम विचार करें तो नई शिक्षा नीति में इन सब तथ्यों को ध्यान में रखकर ही आत्मनिर्भर भारत और कौशल–विकास जैसी परिकल्पनाओं को सम्मिलित किया गया है, जो वर्तमान समय की महत्वपूर्ण आवश्यकता है।

संदर्भ

1. ठाकुर, पं0 आद्या. (1967). वेदों में भारतीय संस्कृति. सूचना विभागः उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ. पृष्ठ **6.**
2. अल्तेकर, ए0एस0. (1963). प्राचीन भारत में शिक्षा. विद्याभवनः बंबई. पृष्ठ **22.**
3. पांडेय, डॉ. राजबली. (1978). हिन्दू संस्कार. तृतीय संस्करण. चौखम्बा विद्याभवनः वाराणसी. पृष्ठ **16.**
4. गुप्त, अत्रिदेव. (1951). संस्कार विधि विमर्श. विश्वविद्यालय प्रकाशनः वाराणसी. पृष्ठ **12.**
5. कुमार, डॉ. कृष्ण. (1998). प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति. द्वितीय संस्करण. रावत पब्लिकेशंसः जयपुर. पृष्ठ **09.**
6. सिंह, राजेन्द्र पाल., चन्दोला, लता. (2004). शिक्षक एवं ज्ञानवान समाज. शिप्रा प्रकाशनः दिल्ली. पृष्ठ **17.**
7. पांडेय, डॉ. राजबली. उपरोक्त. पृष्ठ **19.**
8. ठाकुर, पं0 आद्या. उपरोक्त. पृष्ठ **14.**
9. सिंह, राजेन्द्र पाल., चन्दोला, लता. उपरोक्त. पृष्ठ **11.**
10. ऋग्वेद. 10/109/5.
11. चौबे, डॉ0 सरयू प्रसाद. (1974). आदि ओर मध्ययुगीन भारत में शिक्षा. आगरा. पृष्ठ **45.**
12. मनुस्मृति. 2/7.
13. ग्रिशपॉन, मोहानन. (2003). क्राइसिस एण्ड नॉलेज : विद दि उपनिशदिक एक्सपीरिएन्स एण्ड स्टोरी टैलिंग. आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेसः नई दिल्ली. पृष्ठ **52–55.**
14. मातेव रक्षाति पितेब हिते नियुक्ते।
15. मनुस्मृति. 26.102.
16. (2004). मनुस्मृति. 2.6, 26, 29; 3.1–4. पृष्ठ **175.**
17. पाण्डेय, डॉ0 राजवली. पूर्वोद्धत. पृष्ठ **151.**
18. तारानाथः वाचस्पत्यम्। अमर कोश. पृष्ठ **286–89.**
19. जैमिनी. सूत्र टीका 1.3.
20. चौबे, डॉ0 सरयू प्रसाद. पूर्वोद्धत. पृष्ठ **24.**
21. सत्यकेतु वेदालंकार. पूर्वोद्धत. पृष्ठ **258.**
22. ईशा वास्योपनिषद. 11.34.
23. मुन्डकोपनिषद. 1,1,5.
24. चौबे, डॉ0 सरयू प्रसाद. पूर्वोद्धत. पृष्ठ **7–8.**
25. अथर्व0. 6/108/1–5 मंत्र।
26. सनिं मेधाम् अयासिशम्। यजु0।

27. यजु0. 32 / 15.
28. त्वं नो मेधे ..... सूर्यस्य रश्मिभिः। अथर्व0 6 / 108 / 1.
29. मेधामहं प्रथमा ..... ब्रह्मजूताम् ऋषिश्टुताम्। अथर्व0 6 / 108 / 2.
30. ऋषयो भद्रां मेधां यां विदु। अथर्व0 6 / 108 / 3.
31. याम् ऋषयो भूतकतो मेधां मेधाविनो विदु। अथर्व0 6 / 108 / 4.
32. मेधा सायं प्रातः। अथर्व0 6 / 108 / 5.
33. मेधा ऋतस्य जग्रम अयं सूर्य इवाजानि। अथर्व0 20 / 115 / 1.
34. ब्रह्मणाः पूता। अथर्व0 11 / 1 / 18.
35. ब्रह्मणा वावध्यानाम्। अथर्व0 12 / 1 / 29.
36. बृहस्पतिर्म आत्मा। अथर्व0 16 / 3 / 5.
37. अथर्व0. 3 / 30 / 4.
38. ब्रह्मद्विशे शोचय क्षामपश्च। अथर्व0 20 / 36 / 8.